International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 01 Issue 1 || December 2012 || PP 90-94

स्त्री-विमर्श:चुनौतियां एवं संभावनाएं

ताहिरा बानों

व्याख्याता उर्दू
राजकीय मीरा कन्या महाविधालय उदयपुर (राजस्थान)

परिचय

स्त्री विमर्श आधी आबादी के संघर्ष और उत्थान का विमर्श है।फ्रांसीसी राज्य क्रांति (1789) के तीन प्रमुख बिंदु थे- समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व।ये किसी भी देश में मानवता के हक में जरूरी हैं।पश्चिमी देश और भारत के इसी समानता के सिद्धांत के तहत स्त्री के हक और स्त्री प्रश्न के मुद्दों पर चर्चा शुरू हुई।भारत में नवजागरण के उदय के साथ ही स्त्री के सवाल पर गंभीरता से विचार होने लगा था।आगे चलकर स्त्री-मुक्ति आंदोलन के सामने दोहरी चुनौतियां थीं।स्त्रियों को दो स्तरों पर लड़ाई करनी पड़ी थी।पहला , अपने अधिकारों और समानता के लिए तो दूसरा औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध।आगे चलकर स्त्री-पुरुष के समान अधिकार की मांग और पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्रियों पर थोपी गई रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध भी स्त्री-आंदोलन के विषय बने।समय के साथ कई नई समस्याएं जुड़ती गईं।स्त्रियों की राजनीतिक , धार्मिक और आर्थिक हिस्सेदारी की चर्चा भी होने लगी।कई नए कानून बनाकर स्त्रियों के अधिकारों को सुरक्षित करने की घोषणा भी की गई।लेकिन बहुत कुछ कागज़ पर ही दिखाई देता है।अभी भी स्त्रियों का यौन उत्पीड़न थमा नहीं है।पिछले लगभग चार दशकों से स्त्री-विमर्श ने दुनिया भर में अपना खास प्रभाव दिखाया है।

आज महिलाओं की मौजूदगी विधानसभा और संसद तक है , हालांकि महिला आरक्षण विधेयक 15 सालों से अटका हुआ है।इसका पुरुष प्रतिनिधि विरोध करते हैं।आज भी दहेज की समस्या है , परिवार द्वारा उच्च शिक्षा पर रोक लगा दी जाती है और सामाजिक हिस्सेदारी , आर्थिक आत्मनिर्भरता जैसी समस्याएं मौजूद हैं।आज स्त्रियों के बंधनों का नए सिरे से महिमामंडन हो रहा है।

पिछले कुछ दशकों के अभूतपूर्व परिवर्तन से स्त्री विमर्श अछूता नहीं रहा है और नई समस्याएं भी पैदा हुई हैं।एक तरफ, सुदूर गांव में स्त्रियों का एक ऐसा तबक़ा है , जो बदलावों और समस्याओं से अनभिज्ञ है तो दूसरी तरफ, बाजार और मीडिया स्त्रियों की छवि का निर्माता हो गया है।आज भी समाज में एक लकीर खिंची हुई है कि स्त्रियां कोमल हैं, वे सभी कामों को नहीं कर सकती हैं और पुरुष सभी काम कर सकते हैं।

यह परिचर्चा स्त्री विमर्श के नए मुद्दे को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है , क्योंकि नई स्थितियों में पश्चिमी सोच तथा संरक्षणवादी सोच की विडंबनाओं को सामने लाना जरूरी है।इस परिचर्चा में महत्वपूर्ण लेखिकाओं ने हिस्सा लिया है।

स्त्री-विमर्श:चुनौतियां एवं संभावनाएं

स्त्री-अध्ययन की दिशा में एक नया मोड़ 1989 में के.डब्ल्यू. क्रेनशॉ द्वारा प्रस्तावित 'थियोरी ऑफ़ इंटरसेक्शनेलिटी' के साथ आता है जिसकी चर्चा हिंदी में कम हुई है. इस सैद्धांतिकी की विशेषता यह है कि इसमें इस बात पर बल दिया गया कि किसी भी सामाजिक अध्ययन में लिंग या जेंडर को असमानता के एकमात्र आधार के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता. व्यक्ति की सामाजिक स्थिति (Social Position) व भौतिक उपस्थिति (Location) जहाँ से वह संसार को संबोधित कर रहा है, उसके प्रति होने वाले भेदभाव को समझने में मदद करते हैं.

हमारी सामाजिक-राजनीतिक संरचनाओं में अनेक प्रकार की हिंसा अंतर्निहित है. नस्ल, जाति, वर्ग की विभाजक रेखाएँ एक ही समय में एक-दूसरे पर से गुज़रती हैं. ये सभी अंतर्धाराएँ हिंसा और दमन के नए भाष्य रचती हैं, इनकी पहचान लिंगाधारित विषमताओं को समझने का सही परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है क्योंकि समाज की सभी स्त्रियाँ सम-वर्ग नहीं हैं. जाति या वर्ग के आधार पर वे भी दूसरे वर्ग व जाति की महिला के साथ वैसा ही असमान व्यवहार करती हैं जैसा पुरुष उन जातियों और वर्गों के साथ करता रहा है. स्वयं पुरुष की स्थिति भी ऐसी ही है. शोषित वर्ग में अवस्थित होने से दमन की पीड़ा झेलता पुरुष अपने वर्ग की स्त्री को वंचित रखने की प्रक्रिया में उसी प्रकार शामिल हो जाता है जैसे अन्य वर्गों के पुरुष. सामाजिक संरचनाएँ सत्ता और वर्चस्व के आधार पर स्त्री-स्त्री, स्त्री-पुरुष के बीच अनेक प्रकार के पदानुक्रम स्थापित करती रहती हैं. स्त्री-रचनाशीलता की सार्थकता, इन संरचनाओं में अंतर्निहित हर प्रकार के शोषण को रेखांकित कर उसके विरुद्ध लोकमत का निर्माण करने में है.

हिंदी की स्त्री-कविता अपने स्तर पर इन सभी प्रश्नों को संबोधित करती रही है. स्त्री-संघर्ष का इतिहास लंबा सफ़र तय कर चुका है. अपने होने और जताने को लेकर स्त्री-अस्मिता के उभार से जन्मे इस संघर्ष का विकास अनेक दिशाओं में हुआ. राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व में भागीदारी से लेकर आर्थिक संसाधनों में बराबर अधिकार की माँग कमोबेश रूप से विश्व के सभी हिस्सों से उठी. स्त्रीवाद की विभिन्न धाराएँ इन्हीं माँगों में से बला-बल के आधार पर एक-दूसरे से पृथक होती हैं. उदार स्त्रीवाद, रेडिकल स्त्रीवाद, मार्क्सवादी स्त्रीवाद आदि सभी धाराओं में स्त्री-मुक्ति के किसी एक पक्ष को केंद्र में रखकर लैंगिक असमानताओं से मुक्ति का आह्वाहन किया गया. ये सभी प्रयत्न इस मुक्ति अभियान के सार्थक पड़ाव हैं लेकिन इनके अपने-अपने पक्ष इतने हावी हैं कि उनमें पूरा परिप्रेक्ष्य नहीं उभर पाता. अस्मितामूलक संघर्ष केवल एक सीमा तक ही परिवर्तन में सहायक हो सकते हैं. इसलिए एक ऐसा स्त्रीवाद आवश्यक है जिसका बल तमाम सामाजिक असमानताओं को सन्दर्भ बनाता हो. स्त्री-साहित्य ने यह काम बखूबी किया है लेकिन संभवतः हमारी आलोचना के पास स्त्री-रचनाशीलता की परख के लिए सही मानक उपलब्ध नहीं हैं.

इंटरसेक्शनैलिटी की थ्योरी के बीज ब्लैक फेमिनिज्म में हैं. 1851 सोजर्नर ट्रुथ के प्रसिद्ध भाषण 'Ain't I a woman- क्या मैं स्त्री नहीं हूँ?' जिसमें उन्होंने यह सवाल उठाया था कि क्या ब्लैक महिला, महिला नहीं है और क्या महिला आंदोलन का सरोकार उनके जीवन से जुड़ा नहीं है? क्या उनकी माँगें महिला अधिकारों में कोई जगह नहीं रखतीं? जो सवाल सोजर्नर ट्रुथ ने उठाए उससे यह सिद्ध हुआ कि स्त्रीवाद का संबंध स्त्रियों के लिंग से अधिक उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ था. क्रेनशॉ के लिए महत्वपूर्ण था यह बताना कि कैसे ब्लैक महिलाओं के प्रति हिंसा की घटनाएँ अधिक होती थीं क्योंकि उनका संबंध उनके लिंग की अपेक्षा उनके वर्ग व नस्ल से अधिक था. उनके लिए समाज प्रदत्त निश्चित भूमिकाओं को निभाना अनिवार्य था. भारत में भी जाति और वर्ग के आधार पर ऐसा भेदभाव व्यापक रूप से मौजूद है. जो स्त्रियाँ लिंग, जाति, वर्ग इन सभी आधारों पर दोहरा-तिहरा अभिशाप झेलते हुए, समाज की हाशियाकृत-बहिष्कृत स्थिति में है, उनकी स्थिति के विश्लेषण और मुक्ति के रास्ते ढूँढने में इंटरसेक्शनैलिटी का सिद्धांत कारगर हो सकता है.

कैथी डेविस का मानना है कि इंटरसेक्शनैलिटी की सीमाएँ निश्चित नहीं है और दृष्टि का यह खुलापन ही इसकी गंभीरता का प्रमाण है. सामाजिक न्याय की सभी स्थितियों में इस सिद्धांत की साहित्यिक एवं समाजशास्त्रीय भूमिका विमर्श में बहुत कुछ जोड़ सकती है. इंटरसेक्शनैलिटी की दृष्टि से साहित्यिक कृतियों को पढ़ने से उनके भीतर छिपी अनेक व्यंजनाएँ व उनके अंत: पाठ उजागर हो सकते हैं. स्त्री भाषा वैज्ञानिकों ने साहित्यिक रचना के पाठ की प्रविधि में इस बात पर बहुत बल दिया कि किसी भी रचना का अर्थ, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी स्तरों पर गतिशील रहता है. जूडिथ बटलर तथा जूलिया क्रिस्टेवा ने भाषा के डिकोडीकरण के माध्यम से इन्हीं छिपे हुए अर्थो को अनावृत करने की बात कही है. आलोचना की दुनिया में जूडिथ बटलर तथा जूलिया क्रिस्टेवा की विश्लेषण पद्धतियों का खासा प्रभाव पूरी दुनिया

में रहा क्योंकि इसने साहित्यिक कृति को उसके सीमित दायरे से निकाल कर पाठ की सामाजिक सांस्कृतिक महत्ता को प्रतिष्ठित किया.

भारत जैसे बहुलतावादी देश में लिंग, जाति, वर्ग के अनेक समीकरण सामाजिक संरचना का जटिल जाल बुन देते हैं जिसमें स्त्रियों की स्थिति को भी उनकी भिन्न अस्मिताओं के समंजन में ही पहचाना जा सकता है. विशेष रूप से दलित एवं आदिवासी स्त्री रचनाकारों की कविता उनके लैंगिक दमन के साथ-साथ उनके वर्गगत शोषण को भी अभिव्यक्त करती है. उनका स्त्रीवाद विषम सामाजिक व्यवस्था का प्रतिकार है. इंटरसेक्शनैलिटी हमें वह परिप्रेक्ष्य देती है जिसमें हम इन रचनाकारों की कविता में असमानता की पीड़ा के पाठ को समझकर सामाजिक तनावों को सुलझाने की कोशिश करें. हमारे समाज में दलित व आदिवासी जन समाज की स्थिति उन लोगों से बेहतर नहीं हैं जिन्हें अपनी त्वचा के रंग के कारण सामाजिक सहभागिता से बहिष्कृत किया गया. इंटरसेक्शनैलिटी ने इन पुरानी समस्याओं के समाधान की दृष्टि से वैचारिक विमर्श के आधार को विस्तृत किया है. यह वंचित जन समाज के सशक्तीकरण की प्रस्तावना भी है क्योंकि इसकी स्थापना यह भी है कि लेखन संघर्ष का ही एक रूप है.

स्त्री रचनाशीलता में स्त्री अनुभव, स्त्री स्वर, स्त्री दृष्टि की अपनी महत्ता है लेकिन असली चुनौती इस बहुलतावादी समाज की अंतवर्ती जटिलताओं की पहचान करने की है. 'जो है' उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है उन सामाजिक प्रक्रियाओं को अनावृत करना जो उस समाज के ऐसा होने के लिए उत्तरदायी हैं. पितृसत्ता और उसका विरोध जितना बड़ा सत्य है उतना ही बड़ा सत्य समाज का वह ढाँचा है जो पितृसत्ता या मातृसत्ता जैसे वर्चस्वमूलक साँचे गढ़ता है. स्त्री साहित्य के छोटे-छोटे विवरणों में सामाजिक असमानताओं का परस्पर गुँथा हुआ वह रूप दिखाई देता है जिसमें स्थितियों और व्यक्तियों का ऐसा अनुकूलन है कि सामाजिक अंतर्विरोध सहज व सामान्य दिखने लगते हैं. स्त्री-साहित्य इन आत्मगत ब्यौरों के तहत उन अंतर्विरोधों को उजागर करता है. यह एक बदला हुआ दृष्टिबोध है.

विकसनशील समाज के लिए गतिशील समता का बोध आवश्यक है. समता की कोई भी अवधारणा स्थिर व स्थाई नहीं हो सकती. सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी आदि अनेक कारणों से सामाजिक संरचनाएँ लगातार गतिशील परिवर्तनों की साक्षी रहती हैं. स्त्री-पुरुष की जीवन-स्थितियाँ भी इन परिवर्तनों के साथ चक्राकार-सी घूमती और बदलती रहती हैं. स्त्री-साहित्य, लगातार इन बदलती हुई परिस्थितियों व उनकी टकराहट में रूप धरती मनःस्थितियों के द्वंद्व को प्रस्तुत करता रहा है. इस अर्थ में उसे एक सामाजिक पाठ के रूप में पढ़ा जा सकता है. बदलती सदियों में स्त्रियों ने अपने मन की परतों में बहुत गहरे दबी सच्चाइयों को कहना सीखा है, जिनके विषय में सोचने पर भी पहरा था. इसलिए सामाजिक समता के सवालों और लैंगिक दृष्टि से उसके परिवर्तनशील समीकरणों को स्त्री साहित्य में रेखांकित कर पाना इस साहित्य को पढ़ने की पहली माँग है.

स्त्री साहित्य, साहित्यिक रचना व आलोचना में एक प्रकार का दखल है जिसने स्थापित मानकों को पलटकर ऐसा हस्तक्षेप करने की कोशिश की है जिनसे उन स्थापनाओं की वास्तविकता उजागर हुई, साथ ही स्त्री के लिए यह उसके सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा अपने खोए स्वत्व को पाने का प्रयत्न है. यह अकारण नहीं है कि आज सभी भाषाओं में रचने वाली स्त्रियों की संख्या पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है. उसका महत्व इस दृष्टि से भी है कि वह स्त्री की निजी दुनिया का साक्षात्कार भर नहीं है बल्कि विश्व के विस्तृत सामाजिक-राजनीतिक लैंडस्केप पर लिंगाधारित असमानताओं के स्याह-सफ़ेद को देखने-परखने-समझने की सामाजिक अंतःप्रक्रिया है. स्त्री-रचनाशीलता की असली पहचान साहित्यिक पाठ की तहों में गहरे बसी उन आंतरिक सच्चाईयों से बनती है जिनका सामना हर स्त्री अपने जीवन में बार-बार करती है लेकिन जिसे तार-तार उधेड़ने का दायित्व स्त्री रचनाकारों ने उठाया. सामाजिक वर्ग-विभेद पर होने वाली असमानताओं को समझ पाना आसान नहीं है. अनेक व्यवस्थाओं द्वारा उन स्थितियों का ऐसा अनुकूलन किया जाता है कि जाने-अनजाने वह स्थितियाँ सामान्य लगने लगती हैं और उनके पार देखने का साहस, दुस्साहस बन जाता है

स्त्री व स्त्रीत्व की अनेक छवियाँ इसी अनुकूलन का परिणाम हैं. जाति व वर्गगत असमानता भी इसी प्रक्रिया में रची जाती है. साहित्यिक रचनाओं के सामाजिक पाठ ऐसी अर्थ-व्यंजनाओं को केंद्र में लाने का उपक्रम हैं. साहित्य की सार्थकता सामाजिक अनुकूलन करने वाली द्वंदात्मक संरचनाओं को चुनौती देने की क्षमता पर आधारित है. स्त्री-साहित्य इसी अर्थ में विलक्षण है कि वह सामाजिक विषमता के द्वैत को लिंगाधारित विषमता का अतिरिक्त आयाम देता है और लिंगाधारित असमानता को इकहरे प्रस्तुत न करके अन्य सामाजिक विषमताओं के परिप्रेक्ष्य में उसकी जटिलताओं को सामने लाता है.

स्त्री-साहित्य का मुखर स्वर दुविधा, असमंजस और वैषम्य से बुना जाकर विरोध के साहस और मुक्ति की आकांक्षा का प्रतिस्थापक बनता है. स्त्री की साहित्यिक संरचना का यह ग्राफ कमोबेश रूप में थेरीगाथाओं के समय से आज तक साहित्यिक अंतर्धारा में समाहित है जिसे बदलते समय के साथ और शिद्दत से महसूस किया जा रहा है. भारतीय साहित्य में भले ही आलोचनात्मक प्रतिमान के रूप में उसकी स्थापना बहुत बाद में हुई किंतु लिंगाधारित असमानता और विषमता का अहसास स्त्री-रचनाशीलता के साथ प्रारंभ से जुड़ा हुआ है, इसलिए उसे पश्चिम से आई सैद्धांतिकी के रूप में आँकना सर्वथा उचित नहीं होगा. यह सही है कि भारतीय दृष्टि में अध्ययन का सन्दर्भ व्यक्ति-अस्मिता की अपेक्षा सामूहिक सामाजिक उपस्थिति है जिससे स्त्री का अस्तित्व उसकी पारिवारिक भूमिकाओं में परिभाषित होता रहा. वहाँ परिवार और पारिवारिक संबंध, चिंतन तथा विमर्श का सन्दर्भ बिंदु बनते हैं.

स्त्री की पारिवारिक-सामाजिक स्थिति उसकी निजता पर से गुजरने वाली अंतर्वेधी (Inter sectional) रेखा है. निजता एवं सामाजिक-पारिवारिक अवस्थिति की द्वंदात्मक टकराहट स्त्री-लेखन में आदिकाल से सुनी जा सकती है. परिवार-पितृसत्ता दमन के एजेंट भी हैं और सामाजिक प्रतिष्ठा के मानक भी. इसी से स्त्री-लेखन का स्वर द्वंद् और असमंजस भरा है. पारिवारिक हिंसा, दमन की पीड़ा और उससे निष्पन्न अंतर्विरोधों को स्त्री-रचनाकारों की कृतियों में सुना जा सकता है. बलाघात का अंतर अवश्य है, कहीं अश्रुपूर्ण वेदना से भरा मुलायम स्वर है तो कहीं आक्रोश-भरी उग्रता, लेकिन दोनों ही स्थितियों में असमानता को लक्षित करना कठिन नहीं है

निष्कर्ष

स्त्री विमर्श उस साहित्यिक आंदोलन को कहा जाता है जिसमें स्त्री अस्मिता को केंद्र में रखकर संगठित रूप से स्त्री साहित्य की रचना की गई। हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श अन्य अस्मितामूलक विमर्शों के भांति हीं मुख्य विमर्श रहा है जो की लिंग विमर्श पर आधारित है। स्त्री विमर्श को अंग्रेजी में फेमिनिज्म कहा गया है। शुरुआत में हिंदी में इसके लिए नारीवाद या मातृसत्तातमक शब्द प्रचलन में रहा है।

स्त्री-विमर्श अभी भी हमारे समाज के लिये आत्म-परीक्षण और आत्मालोचन को उकसाने का समुचित कारण नहीं बन सका है। इसी मानसिकता का नवीनतम जलवा नया ज्ञानोदय के बेवफ़ाई सुपर-विशेषांक के मशहूर साक्षात्कार के और भी मशहूर उद्धरण में धधक रहा है – " कह सकते हैं कि यह (स्त्री) विमर्श बेवफ़ाई के विराट उत्सव की तरह है।लेखिकाओं में होड़ लगी है यह साबित करने के लिये कि उनसे बड़ी छिनाल कोई नहीं है। " विराट शब्द तो बहुत बड़ा है , लेकिन हिन्दी का स्त्री-विमर्श चाहे कितना भी विकलांग , अधूरा, एकतरफ़ा, और अपर्याप्त क्यों न कहा जाता हो , इतनी चेतना तो उसने जगाई ही है कि इस पुरुषवादी मानसिकता की अभिव्यक्ति के विरुद्ध ऐसा न्यायाधिकार-परायण एकजुट आवेश और प्रतिरोध , एकमत आक्रोश और अभियान संभव हुआ है। निश्चय ही यह स्त्री-विमर्श के लिये महोत्सव का एक कारण है।

नाम सिर्फ़ एक नाम नहीं. यह उद्धरण यहाँ अपने वक्ता के नाम के बिना ही ही पेश किया जा रहा है। इसकी वजह सिर्फ़ इतनी भर नहीं कि मामला अगर मशहूर और सुर्खियों में मौजूद है तो आश्वस्त हुआ जा सकता है कि पाठक नाम के बिना भी जान ही गये होंगे , बल्कि यह है कि बात सिर्फ़ एक नाम की नहीं , एक पूरे साँचे की है जिसमें से यह मानसिकता ढल कर निकलती है। लेकिन , बेशक नाम की अपनी एक बेहद ज़रूरी

अहमियत है, क्योंकि अमूर्त के ख़िलाफ़ अमूर्त को यथार्थ के मैदान में उतारने के लिये मुद्दों का एक मूर्त ठोस आकार लेना ज़रूरी है। अन्यथा मानसिकता और उसको ढालने वाले साँचे के ख़िलाफ़ कोई भी लड़ाई दरअसल कोई ठोस और असली लड़ाई नहीं बन पाती , युद्ध के लिये प्रयाण का भ्रम पाले रख कर , हवा में अनन्तकाल तक एक हवाई तलवार भाँजते हुए मैदान के आदि से अन्त तक आना जाना निष्फल निर्बाध चलता रह सकता है।हिन्दीभाषी समाज में स्त्री-विमर्श अभी अपनी प्राथमिक परिभाषा के आस-पास ही ठिठका हुआ है , अभी भी वह स्त्री के

प्रति सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ाई है। सशक्तीकरण की शुरुआत सजग चेतना के उदय से होती है, व्यक्तिगत स्तरों पर थोड़ा बहुत हुई भी है लेकिन बड़े पैमाने पर वह शुरुआत होनी अभी बाकी है। सामाजिक साँचों और अलिखित अनुबन्धों के ख़िलाफ़ लड़ाई के दो पक्ष हुआ करते हैं – तात्कालिक और दीर्घकालीन। अभी उपस्थित छिनाल-प्रसंग 'तात्कालिक' का एक उदाहरण है , सहसा उठ खड़ी एक ऐसी घटना जिसके इर्द-गिर्द एक कोलाहल जमा होकर मुद्दे में बदल गया है। फ़िलहाल यह घटना एक व्यक्तिवाची संज्ञा है , एक नाम। जातिवाची संज्ञाओं के जरिये चलने वाले अमूर्त वैचारिक विमर्श में व्यक्तिवाची संज्ञाएँ एक ऊर्जा-तरंग जोड़ देती हैं। टकराहट से पैदा होने वाला क्षोभ और उद्वेग एक वैचारिक व्यग्रता और पर्युत्सुकता को जन्म देता है लेकिन केवल वैयक्तिक उठापटक तक सीमित और गाली गलौज में विघटित होकर रह जाने की संभाव्य नियति को भी। अखबारी सुर्खियों से मिलने वाला विस्तार अगर इस विघटन के पैमाने का विस्तार बनकर ही रह जाए, व्यग्रता को वैचारिक पर्युत्सुकता में न बदल पाए , तो यह अखाड़े से उठी धूल से अधिक कुछ नहीं जो थोड़ी देर में बैठ जाएगी।

सन्दर्भ

1. डाॅ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर बुक्स,१९७३, पृ.४३२
2. डाॅ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर बुक्स,१९७३, पृ.४३२
3. डाॅ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर बुक्स,१९७३, पृ.४३२-४३३
4. डॉ. हेमंत कुकरेती- हिंदी साहित्य का इतिहास, सतीश बुक डिपो,२०१६, पृ.२३७
5. डॉ. मंदाकिनी मीणा एवं डॉ. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'- अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य , श्री नटराज प्रकाशन, २०१६, पृ.३१